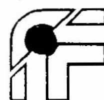
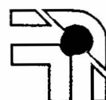


क्षितीश वेदालङ्कार

दृढनिश्चयी और कर्मठता की प्रतिमूर्ति क्षितीशजी के अन्तर ने जिसे स्वीकार नहीं किया उसे कभी माना नहीं और न ही समझौता किया। देश में लगे आपातकाल में आपने लिखा—हे सखि! सुना है, बसन्त आ गया है, लेकिन यह कैसा बसन्त जिसमें कोयल की बोली पर प्रतिबन्ध है। जिसे आत्मा ने सत्य माना उसे बलिदान की सीमा तक आत्मसात किया। हैदराबाद सत्याग्रह इसका उदाहरण है, जब वेदालङ्कार की परीक्षा में कुछ माह रह गये थे लेकिन आप आत्मीयों के विरोध के बाद भी प्रथम सत्याग्रही जत्थे में थे।

महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा से आपके जीवन के निर्मल निखार आया। वाणी और लेखनी के कुशल प्रयोगधर्मी क्षितीशजी ने इनके द्वारा आर्यसमाज के यश में वृद्धि की। जीवन के अन्तिम श्वास तक आप कर्म द्वारा जनकल्याण के क्षेत्र से जुड़े रहे। आर्यसमाज हिण्डौन सिटी ने आपको श्री घूडमल आर्य पुरस्कार द्वारा सम्मानित कर, अपने कर्त्तव्य का पालन किया। साथ ही ट्रस्ट ने इस पुस्तिका के अतिरिक्त आपके सम्पादकीयों का सङ्कलन 'असलियत क्या है!' प्रकाशित किया।

—प्रभाकरदेव आर्य


संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।


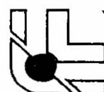
—महर्षि दयानन्द

आर्यसमाज की विचारधारा

क्षितीश वेदालङ्कार



प्रकाशक :


स्वामी सत्यानन्द स्मारक ट्रस्ट
आर्यसमाज, हिण्डौन सिटी (राज०)


द्वितीयावृत्ति : ३२००

मूल्य : एक रुपया



महर्षि दयानन्द सरस्वती

सदियों के लम्बे शून्य के पश्चात् मानवता के भाग्याकाश पर जो तिमिरहर्ता सूर्य उदित हुआ उसने जड़ हो चली मानवता को वेदाभिमुख करने का अनुपम कार्य किया। महिला-समाज जिसके साथ निर्जीवों जैसा निर्दय व्यवहार किया जाता था, इसे इसके गरिमामय स्वरूप पर प्रतिष्ठापित कर समान अवसर प्रदान कराने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रत्येक मनुष्य को उन्नति के समान अवसरों की राह प्रदर्शित कर मानवता पर से कालिमा को हटाया। परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़े भारतवासियों की मृतप्राय आत्मा को झकझोर कर इसे स्वाभिमान से जीने हेतु इन बेड़ियों से मुक्त होने के मन्त्र से अभिहित किया।

ऐसे आप्तपुरुष, जगत्हितैषी, परदुःखकातर महापुरुष के चरणों में सादर प्रणाम।

प्रकाशकीय

लघु-पुस्तिकाओं का महत्व प्रत्येक युग में रहा है। वर्तमान में जब मनुष्य भागमभाग का जीवन जी रहा है तब इनकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। इस प्रकार के अतिव्यस्त लोगों तक दिशायुक्त विचार पहुँचाने के लिए यह प्रकार उत्तम ही कहा जाएगा। इनके अतिरिक्त हर वर्ग के लोगों के लिए कुछ पृष्ठों की सामग्री आसानी से पढ़ने और मनन के लिए कारगर साधन है। यही नहीं, स्वाध्याय की प्रवृत्ति निर्मित करने के लिए यह लाभकारी उपाय है।

प्रस्तुत लघु-पुस्तिका में विद्वान् लेखक ने आर्यसमाज की विचारधारा आसानी से समझ में आ सकने वाली शैली में प्रस्तुत की है। जीवन के आर्थिक पक्ष पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है जिसकी चर्चा कम ही की जाती है। आर्यसमाज के सम्बन्ध में प्रचारित बहुत-सी निरर्थक बातों का इससे समाधान होता है। संक्षेप में सुखी-समाज के निर्माण का सार्थक उपाय है-इसमें।

हमारा विश्वास है कि यह प्रयास सही दिशा में प्रभावी कदम होगा।

यह पुस्तिका अनेक स्थानों से अनेक बार प्रकाशित हुई है। ट्रस्ट द्वारा इसका तीन सहस्र का संस्करण अल्पकाल में ही समाप्त हो गया। यह दूसरा संस्करण नई सज्जा के साथ पाठकों को समर्पित है।

—प्रभाकरदेव आर्य

आर्यसमाज की विचारधारा

संसार में विभिन्न मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों की कोई कमी नहीं है। परन्तु आर्यसमाज का न कोई मत है, न कोई सम्प्रदाय। जब कोई अनपढ़ देहाती यह कहता है कि "हिन्दू और मुसलमान नाम तो सदा से ही सुनते आए हैं, किन्तु 'आर्या' और 'आर्यसमाज' का नाम पहले कभी नहीं सुना"— तब यह उसकी अज्ञता का ही द्योतक होता है। आर्य शब्द उतना ही पुराना है जितना वेद और उन दोनों का अविना-भाव सम्बन्ध है। तथापि आर्यसमाज शब्द अपेक्षाकृत नया है। इसलिए प्रत्येक के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आर्यसमाज की स्थापना की आवश्यकता क्यों पड़ी?

सच तो यह है कि आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कोई नई बात नहीं कही, प्रत्युत ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त प्राचीन ऋषि-महर्षि जो कुछ भी कहते आए, काल-क्रम से उस पर पड़े आवरण को हटाकर उन्होंने उसी उद्‌घोष को दुहराया और वेद प्रतिपादित, शाश्वत, सत्य सनातन धर्म की रक्षा के लिए ही आर्यसमाज की स्थापना की। इस दृष्टि से आर्यसमाज को कोई पृथक् मत, मजहब या सम्प्रदाय न कहकर एक ऐसा आन्दोलन कहना चाहिए जो बुद्धिवाद का आश्रय लेकर वैदिक धर्म के शुद्ध स्वरूप को जनता के सामने उपस्थित करता है। इसलिए यदि आर्यसमाज

को समझना हो तो वेदादि सत्य शास्त्रों में प्रतिपादित सचाइयों को समझना पर्याप्त है।

परन्तु आधुनिक दृष्टि से आर्यसमाज के स्वरूप को समझने के लिए अन्य मतों से—या कहना चाहिए—अन्य विचारधाराओं से—उसका कहाँ मतभेद है—यह बताना आवश्यक है। जिस प्रकार संसार के अन्य सब धर्म-ग्रन्थों में कुछ बातें वेद से मिलती जुलती हैं (और उन समानताओं का आधार केवल वेद ही हो सकता है क्योंकि अन्य सब धर्म-ग्रन्थों के बारे में हमें मालूम है कि इतिहास के किस काल में किस विशिष्ट महापुरुष द्वारा उस ग्रन्थ का प्रणयन और उस मत का प्रवर्त्तन हुआ, जबकि वेद के बारे में इस प्रकार की बात नहीं कही जा सकती), ठीक उसी प्रकार यह सम्भव है कि संसार के अन्य मतानुयायियों में कुछ बातें वैदिक धर्मावलम्बियों से मिलती जुलती हों, परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वैदिक धर्म की अपनी एक विशिष्ट विचारधारा है। आर्यसमाज उसी का पोषक है। हम आर्यसमाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विचारधारा पर यहाँ प्रकाश डालेंगे, किन्तु स्थान की सीमा को देखते हुए संक्षेप में ही ऐसा करना सम्भव है।

आध्यात्मिक विचारधारा

आर्यसमाज आस्तिकता का पक्षपाती है, परन्तु अन्य आस्तिक मतों से आर्यसमाज की आस्तिकता भिन्न है। अन्य आस्तिक मत

किसी-न-किसी साकार या व्यक्तिरूप ईश्वर (Personal God) में विश्वास करते हैं या अनेक देवों को आराध्य मानते हैं, जबकि आर्यसमाज केवल एक निराकार, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर में विश्वास करता है। निराकार ईश्वर अवतार लेकर या जन्मधारण करके साकार नहीं बन सकता। सर्वज्ञ ईश्वर को किसी कालविशेष की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। ईश्वर सर्वव्यापक है, इसलिए वह किसी मन्दिर, मस्जिद या गुरुद्वारे में, या क्षीरसागर और कैलास पर या चौथे या सातवें आसमान पर विराजमान नहीं हो सकता। सर्वशक्तिमान् होने के नाते रावण या कंस या शिशुपाल जैसे अत्याचारियों को मारने के छोटे-मोटे कार्यों के लिए उसे अवतार लेने की भी आवश्यकता नहीं। निराकार होने के नाते किसी मूर्ति में ईश्वर के विग्रह की कल्पना करना गलत है और न ही मूर्ति के माध्यम से उसकी उपासना की जा सकती है। ईश्वर का साक्षात्कार केवल आत्मा के अन्दर ही सम्भव है क्योंकि वहाँ आत्मा और परमात्मा दोनों एक-साथ विद्यमान हैं, जबकि मूर्ति में परमात्मा की विद्यमानता स्वयं सिद्ध होने पर भी किसी तरह जीवात्मा की विद्यमानता सिद्ध नहीं की जा सकती। परमात्मा का दर्शन वहाँ ही सम्भव है जहाँ आत्मा और परमात्मा दोनों ही विद्यमान हों, और वैसा स्थान केवल जीवात्मा में ही सम्भव है, मूर्ति में नहीं। इसलिए अष्टधा या नवधा भक्ति से या अनेकधा पूजाविधियों से नहीं, प्रत्युत योगदर्शन द्वारा वर्णित अष्टाङ्ग-

योग के मार्ग से ही, जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश है, परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है।

जहाँ तक दार्शनिक विचारधारा का सम्बन्ध है, आर्यसमाज त्रैतवाद अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन सनातन सत्ताओं को स्वीकार करता है। वैज्ञानिक प्रकृति से आगे नहीं बढ़ते, बौद्ध तथा जैन जीवात्मा से आगे नहीं बढ़ते, वेदान्ती ब्रह्म के सिवा किसी और की सत्ता स्वीकार नहीं करते। अथ च, ईसाई और मुसलमान जीव और प्रकृति को भी ईश्वर की ही रचना मानते हैं। आर्यसमाज इन सबसे भिन्न ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनों को अनादि मानता है। यह आर्यसमाज का ऐसा बुनियादी सिद्धान्त है जिससे अन्य सब मदवादियों का विरोध होते हुए भी एक तरह से उन सबका इसमें समन्वय हो जाता है। केवल प्रकृतिवादी, केवल जीववादी या केवल ईश्वरवादी का दृष्टिकोण एकांगी है और उनकी यह एकांगिता सृष्टि-तत्त्व की युक्ति-युक्त व्याख्या करने में समर्थ नहीं है, जबकि आर्यसमाज का त्रैतवाद समस्या का परिपूर्ण समाधान उपस्थित करता है।

सामाजिक विचारधारा

वैदिक धर्म ने मानव के व्यक्तिगत विकास के लिए जहाँ जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया है, वहाँ सामाजिक जीवन के विकास

के लिए उसे चार वर्णों में विभक्त किया है। यदि एक वाक्य में कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि 'वर्ण और आश्रम' ही वैदिक समाज के मुख्य आधार हैं। परन्तु आधुनिक हिन्दू समाज में वर्ण और आश्रम के नाम पर जैसी अव्यवस्था फैली हुई है, आर्यसमाज उसका समर्थक नहीं है।

चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। वेद में **''जीवेम शरदः शतम्''** (यजु० ३६।२४) कहकर मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष की मानी गई है। इसमें प्रथम पच्चीस वर्षों में सदाचारपूर्वक विद्याध्ययन करना एवं अपनी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियों का विकास करना होता है। नींव जितनी मजबूत होगी, इमारत उतनी ही मजबूत होगी। इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम में उन सब शक्तियों का अधिक से अधिक सम्पादन करना होता है जो आगामी जीवन में व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अधिक से अधिक उपयोगी हो सकती हैं। इस नींव की दृढ़ता के लिए ही गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के अनुसार नगरों के दूषित वातावरण से दूर जङ्गल में गुरु के चरणों में बैठकर विद्यार्थी जहाँ विद्याध्ययन करता है वहाँ साथ ही ब्रह्मचर्य की भी साधना करता है। ऐसे गुरुकुल का स्नातक केवल पुस्तक ज्ञान का ही पण्डित नहीं होगा, किन्तु जीवन में सदाचार का भी उदाहरण उपस्थित करेगा। जिस राष्ट्र में ऐसे सदाचारी युवक होंगे उसमें भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और बेईमानी आदि आजकल के

सामाजिक और राजनैतिक अभिशापों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम का नम्बर आता है। गृहस्थाश्रम भी भोग-विलास का 'फ्री लाइसेन्स' नहीं है, किन्तु धर्मपूर्वक अर्थ और काम—जिनका पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में महत्वपूर्ण स्थान है—की साधना के लिए गृहस्थाश्रम एक आवश्यक सीढ़ी है। परिवार के प्रति प्रेम की साधना से ही मनुष्य धीरे-धीरे विश्व-प्रेम और ईश्वर-प्रेम के मार्ग पर आगे बढ़ता है। इस आश्रम में जितना महत्त्व पुरुष का है उससे कम नारी का नहीं। नारी और पुरुष दोनों मिलकर गृहस्थाश्रमरूपी रथ के दो पहियों का काम करते हैं। एक भी पहिये में विकार होने से रथ की गति में व्यवधान आ जाएगा। नारी घर की साम्राज्ञी है, वही ऐसा केन्द्र है जिसके चारों ओर गृहस्थ की परिधि चक्कर काटती है। इसीलिए आर्यसमाज ने स्त्री-शिक्षा को पुरुषों की शिक्षा से कम महत्त्व नहीं दिया और समाज के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों को पुरुषों के साथ समानता के स्तर पर रखा।

तीसरा आश्रम वानप्रस्थ है। ५० वर्ष की आयु तक गृहस्थाश्रम में रहकर, उसके बाद गृहस्थ के बन्धन से निकलकर समाज के कार्य में जुट जाना ही वानप्रस्थाश्रम का उद्देश्य है। आजकल जितनी उपेक्षा इस आश्रम की होती है उतनी किसी आश्रम की नहीं। ५०-५५ वर्ष की आयु के पश्चात् भी गृहस्थी बने रहने से जहाँ पारिवारिक झंझट

बढते हैं और बच्चों के स्वावलम्बी बनने में विलम्ब होता है, वहाँ समाज-सेवा का क्षेत्र भी कार्यकर्ताओं से शून्य रहता है। सच तो यह है कि राष्ट्र के बच्चों की शिक्षा की समस्या को हल करना वानप्रस्थियों के ही हाथ में है। गृहस्थाश्रम के मोह से निकले परिपक्व आचरणवाले वानप्रस्थी ही बच्चों के मनोविज्ञान को ठीक-ठीक समझ सकते हैं और उनके सामने सदाचारमय जीवन का आदर्श उपस्थित कर सकते हैं। गृहस्थी बनने को आतुर या सद्योविवाहित २४-२५ वर्ष के नवयुवक, जिन्हें आजकल शिक्षकों के रूप में नियुक्त करने का प्रचलन है, बच्चों के मनोविज्ञान को क्या समझेंगे और उन्हें सदाचार की क्या शिक्षा देंगे? यही कारण है कि आजकल के छात्र अपने जीवन में ही अनेक अनाचारों में पारङ्गत हो जाते हैं।

चौथा संन्यास आश्रम आयु की दृष्टि से ही नहीं, अपितु विश्व-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत व्यक्तित्व के कारण भी सबसे ऊँचा आश्रम है। तीन पीढियों के जीवन के अनुभव की जैसी विशाल सम्पदा संन्यासी के पास होगी वैसी और किसके पास सम्भव है? अपने ज्ञान, परिपक्व अनुभव तथा सबसे प्रेम की भावना के आधार पर समाज का उपकार जितना संन्यासी कर सकता है, उतना और कोई नहीं कर सकता। परन्तु संन्यास केवल कपड़े रङ्गने का काम नहीं है। जब तक तन-मन और जीवन का क्षण-क्षण समाज कल्याण की भावना में न रङ्गा हो तब तक केवल कपड़े रङ्गकर, बिना हाथ-पैर हिलाए, दूसरों

के परिश्रम पर स्वयं ऐश्वर्य में मस्त रहना तो राष्ट्र के लिए भार ही बनना है। देश में ऐसे साधुओं की कमी नहीं है। भारत में इस समय जो ५६ लाख साधु हैं वे यदि सच्चे संन्यासी के कर्तव्यों का पालन करें तो तेश को भ्रष्टाचार से मुक्त करने में तथा सत्पथ पर आरूढ़ करने में भारी योग दे सकते हैं।

चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शेष हिन्दू समाज से आर्यसमाज की वर्णव्यवस्था में विशेष अन्तर यह है कि अन्य लोग जहाँ जन्म के अनुसार वर्ण मानते हैं वहाँ आर्यसमाज गुण-कर्म-स्वभाव और जीविका के साधन के अनुसार वर्ण को स्वीकार करता है। जन्मपरक वर्ण-व्यवस्था के नाम पर अतीतकाल में हिन्दू समाज में शूद्रों पर जो अत्याचार किये गए, उनकी कथा अत्यन्त हृदय-द्रावक है। शूद्रों को छूने तक में पाप समझा जाता था, फिर उनके साथ समानता के व्यवहार की आशा ही क्या की जाती? शूद्रों को विद्या और वेद पढ़ने के अधिकार से वञ्चित रखा गया और बेगार के तौर पर उनसे जबर्दस्ती सेवा वसूल करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार बताया गया। किन्तु आर्यसमाज का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। आर्यसमाज चारों वर्णों को समाज का आवश्यक अङ्ग मानता है और जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की प्राप्ति की दृष्टि से सबको समानता के स्तर पर रखता है, अर्थात् जहाँ तक रोटी-कपड़ा और मकान का सम्बन्ध है, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी के लिए समानरूप से

आवश्यक हैं और इनकी प्राप्ति में किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। परन्तु जहाँ तक सामाजिक प्रतिष्ठा का सम्बन्ध है, वह सबसे अधिक मात्रा में उन लोगों को उपलब्ध होगी जो अपना सारा जीवन ज्ञान की उपासना में लगाएँगे। जितने भी कलाकार, लेखक, अध्यापक, वैज्ञानिक और सरस्वती के साधक हैं और जो समाज के अज्ञान का निराकरण करते हैं वे सब-के-सब ब्राह्मण कहलाएँगे, फिर चाहे उनका जन्म किसी कुल में क्यों न हो। सामाजिक प्रतिष्ठा में दूसरा स्थान होगा उन क्षत्रियों का जो बल की उपासना करते हैं और अन्याय का प्रतिकार अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। सैनिक, योद्धा और राजकीय प्रशासनिक सेवाओं के कर्मचारी इस कोटि में आते हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा में तीसरा स्थान होगा धन की उपासना करनेवाले और उसी में रत रहनेवाले वैश्यों का। व्यापारी, उद्योगपति, दुकानदार और अधिकांश नौकरीपेशा लोग भी इसी कोटि में आएँगे। वे सब समाज के भौतिक अभावों की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं।

ज्ञान, बल और धन की उपासना करनेवाले उक्त तीनों वर्णों में भी मूल प्रेरणा स्वार्थ की नहीं, प्रत्युत परार्थ की ही है। सार-रूप में यों कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति राष्ट्र की अविद्या को दूर करने का प्रयत्न करेंगे वे ब्राह्मण, जो अन्याय को दूर करने का प्रयत्न करेंगे वे क्षत्रिय और जो व्यक्ति राष्ट्र में प्रसृत अभाव की समस्या का हल करने का व्रत लेंगे वे वैश्य कहलाएँगे। जो व्यक्ति राष्ट्र की अविद्या,

अन्याय या अभाव की समस्या को हल करने में विशिष्ट योग नहीं दे सकता और केवल अपना शरीर-श्रम ही समाज की सेवा में अर्पित कर सकता है वह शूद्र कहलाएगा। समाज के लिए ये चारों ही समान रूप से उपयोगी हैं, एक भी अङ्ग के विच्छृङ्खलित हो जाने पर समाज-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाएगी।

'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते'—प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है, उसके पश्चात् संस्कारों के आधान से प्राप्त गुण-कर्म के द्वारा वह द्विजत्व को प्राप्त होता है। जिस तरह वकील का बेटा जन्म से वकील नहीं होता और डॉक्टर का बेटा जन्म से डॉक्टर नहीं होता, उन्हें क्रमशः वकालत और डॉक्टरी पास करने पर ही वकील और डॉक्टर कहा जा सकता है, उसी प्रकार ब्राह्मणत्व के गुण-कर्म से हीन ब्राह्मण का बेटा भी ब्राह्मण नहीं हो सकता। उसे विद्याध्यन, तपस्या और सदाचार के द्वारा ब्राह्मणत्व अर्जित करना होगा। जन्म-परक जाति की मान्यता ही देश का सबसे बड़ा अभिशाप है। गुण और कर्म के द्वारा जाति की मान्यता सामाजिक विकास का जितना उत्तम उपाय है, उतना उत्तम और कोई नहीं हो सकता।

राजनैतिक विचारधारा

जहाँ तक आधुनिक राजनीति का सम्बन्ध है, उसका आपातत: आर्यसमाज से सीधा सम्बन्ध नहीं है। परन्तु राजनीति भी जीवन का आवश्यक अङ्ग है इसलिए न कभी वेदों ने इसकी उपेक्षा की, न स्मृतियों

ने और न ही आर्यसमाज ने। वेद और स्मृतियाँ आदि यद्यपि धर्मशास्त्र हैं, राजनीतिशास्त्र नहीं, परन्तु वैदिक धर्म ने धर्म को जो व्यापक रूप दिया है उसमें राजनीति भी समाविष्ट हो जाती है। क्योंकि "**धर्मो धारयते प्रजा:**"—प्रजा का जिससे धारण होता है, वही धर्म है, प्रजा का धारण क्या कभी उसकी रक्षा-व्यवस्था के बिना और न्याय-व्यवस्था के बिना सम्भव है? ऋषि दयानन्द राजनैतिक नेता (Political Leader) भले ही न हों, किन्तु राजनैतिक तत्त्ववेत्ता (Political Philosopher) अवश्य थे। इसीलिए उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में एक पूरा समुल्लास (छठा) राजनीति को ही अर्पण किया है। वे राजनीति के बजाय राजधर्म शब्द का प्रयोग करते हैं।

आर्यसमाज स्पष्टत: न एकतन्त्र (Dictatorship) का, न बहुतन्त्र (Oligarchy) का, न ही दलतन्त्र (Party rule) का प्रत्युत लोकतन्त्र (Democracy) का पक्षपाती है। आर्यसमाज का संविधान इसका साक्षी है। धार्मिक क्षेत्र में जैसे गुरुडम है, वैसे ही राजनैतिक क्षेत्र में एकतन्त्र या अधिनायक तन्त्र (Dictatorship) है। दोनों समानरूप से दूषित हैं। आर्यसमाज इन दोनों का समर्थक कभी नहीं हो सकता। परन्तु राजतन्त्र (Monarchy) का वह उतना विरोधी नहीं है। राजनीतिशास्त्र की परिभाषाओं की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आर्यसमाज संसदीय लोकतन्त्र का पक्षपाती है। यदि इंग्लैंड में राजा के रहने पर भी संसदीय लोकतन्त्र में बाधा नहीं पड़ती तो

भारत में भी नहीं पड़ सकती। परन्तु वह राजा वंश परम्परा से नहीं होना चाहिए, प्रत्युत उसका भी लोकतन्त्रीय निर्वाचन पद्धति से निर्वाचन होना चाहिए। आर्यसमाज का स्वप्न चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने का है, परन्तु यहाँ साम्राज्य शब्द से घबराने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि चक्रवर्ती साम्राज्य से आर्यसमाज को जो कुछ अभिप्रेत है, वह लगभग वही है जिसे राजनीति-विशारदों ने 'विश्व-साम्राज्य' का नाम दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की कल्पना उसी विचार का परिणाम है। आचार्य विनोबा भावे 'जय जगत्' के नारे से वही बात कहना चाहते हैं। संन्यासी के विश्व-प्रेम की भावना उसी में चरितार्थ होती है और '**सर्वे सन्तु निरामया:**' की वैदिक भावना तभी कृतकार्य हो सकती है।

आधुनिक भारतीय राजनीति के एक संदर्भ में एक बात की ओर ध्यान दिलाना अत्यन्त आवश्यक है। अहिंसा के आदर्श से अनुप्राणित भारत सरकार कभी-कभी ऐसे मानसिक व्यामोह का परिचय देती है जो राष्ट्र-रक्षा के लिए सर्वथा घातक होता है। जहाँ हिंसा का प्रयोग परम कर्त्तव्य होता है वहाँ तो वह अहिंसा की दुहाई देती है, और जहाँ केवल सामान्य सद्बुद्धि और सूझ-बूझ से काम चल सकता है वहाँ वह हिंसा का आश्रय ले बैठती है। 'यथायोग्य व्यवहार' केवल धर्म का ही निर्देशक सूत्र नहीं है, प्रत्युत राजनीति का भी निर्देशक सूत्र है। देश पर आक्रमण करनेवाले आततायियों और आतङ्कवादियों के साथ,

राष्ट्रद्रोही पञ्चमाँगियों के साथ और भ्रष्टाचारी अधिकारियों के साथ दया की नीति बरतना उसी राजनैतिक व्यामोह का परिणाम है। **"दण्ड शास्ति प्रजाः सर्वाःदण्ड एवाभिरक्षति, दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधाः।"** —मनुस्मृति का यह ऐसा वचन है जिसका पालन न करने से राष्ट्र की अपरिमित क्षति होती है। अदण्ड्य को दण्ड देना और दण्ड्य को दण्ड न देना स्वयं दण्डनीय अपराध है। जो राजा इस बात का ध्यान नहीं रखता वह प्रजा की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता। साधुओं का परित्राण और असाधुओं का विनाश—दोनों समानरूप से आवश्यक हैं। राजनीति का यही सार है।

आर्थिक विचारधारा

जिस प्रकार आर्यसमाज राजनीति में स्वराज्य का, संस्कृति में स्वभाषा का, धर्म में स्वधर्म का समर्थक है, वैसे ही अर्थनीति में स्वदेशी का समर्थक है। यदि विदेशी राज्य, विदेशी भाषा, और विदेशी धर्म अवाञ्छनीय हैं तो विदेशी वस्तुएँ भी अवाञ्छनीय हैं। आर्यसमाज की यह भावना विदेशियों के साथ शत्रुता के कारण नहीं है, परन्तु प्रत्येक क्षेत्र में 'स्व' का समर्थन ही आर्यसमाज का राष्ट्रवाद है। स्वदेश में ही अगर स्वदेशी वस्तुओं का आदर नहीं होगा तो और कहाँ होगा? अंग्रेजों की दासता ने भारतीयों की मनोवृत्ति ऐसी बना दी कि आज बड़े से बड़े राष्ट्रीय नेता भी राष्ट्रीयता के इस निर्मल स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं और विदेशी भाषा और विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करते

हुए उनके मन में तनिक भी राष्ट्रीय अपमान की अनुभूति नहीं होती।

आर्यसमाज औद्योगीकरण का विरोधी नहीं है। ऋषि दयानन्द ने अपने पट्टशिष्य, क्रान्तिकारियों के पितामह श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को भारत में (ब्यावर में) सबसे पहली कपड़ा-मिल का मैनेजर बनने की अनुमति दी थी और बाद में विज्ञान के अध्ययन के लिए उन्हें विदेश भेजा था। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने ऋषि दयानन्द के परामर्श से, विदेश जानेवाले भारतीय छात्रों को जहाँ क्रान्ति के मन्त्र से अभिमन्त्रित किया था वहाँ उनके लिए विज्ञान पढ़ने के निमित्त अन्य सुविधाओं की भी व्यवस्था की थी। जर्मनी के विशेषज्ञों से ऋषि दयानन्द ने इस विषय में पत्र-व्यवहार भी किया था कि वे भारतीय छात्रों को विज्ञान और शिल्प सिखाने की व्यवस्था करें। परन्तु देश का औद्योगीकरण करने की तीव्र इच्छा होते हुए भी, ऋषि दयानन्द का उद्देश्य केवल यही नहीं था कि देश में बड़े-बड़े कल-कारखाने स्थापित हों, प्रत्युत छोटे उद्योगों और कुटीर उद्योगों के भी वे पक्षपाती थे, क्योंकि इनके बिना न ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुधर सकती है और न ही स्वदेशी वस्तुओं का विकास हो सकता है। जहाँ तक हम समझते हैं, ऋषि दयानन्द विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के पक्षपाती थे और उद्योगों के पूँजीपतियों के कुछ हाथों में समस्त आर्थिक शक्ति दे देना उनकी कल्पना के विरुद्ध था।

स्वदेशी और विकेन्द्रीकरण का समर्थक होते हुए भी प्रत्येक

उद्योग और व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण का ऋषि दयानन्द समर्थन करते, इसमें हमें सन्देह है। पूँजी किसी एक स्थान पर सञ्चित नहीं होनी चाहिए, तो समस्त पूँजी का मालिक सरकार को ही बना देना क्या पूँजी का एक स्थान पर ही सन्निवेश नहीं हैं? ऐसा करने से जहाँ लोगों में उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा (Incentive) समाप्त हो जाएगी वहाँ सरकार में भी तानाशाही की प्रवृत्ति बढ़ेगी। समाजवादी अर्थव्यवस्था इस सीमा तक तो उपयोगी है कि राष्ट्र की सम्पत्ति किसी व्यक्ति के उपभोग के बजाय समस्त समाज के उपभोग में आवे। किन्तु जब इस सिद्धान्त को भी अति तक पहुँचाया जाता है तब व्यक्ति समाप्त हो जाता है और केवल समाज रह जाता है। परन्तु क्या व्यक्ति के समाप्त हो जाने पर समाज टिक सकेगा? समाज भी तो आखिर व्यक्तियों का समुदाय ही है। इसीलिए आदर्श अर्थव्यवस्था वही हो सकती है जिसमें 'सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनेवाले' व्यक्तियों का स्थान हो।

जिस तरह शारीरिक स्वास्थ्य के लिए रक्त-सञ्चार (Circulation of Blood) का होना आवश्यक है, उसी प्रकार समाज के आर्थिक स्वास्थ्य के लिए धन का सञ्चार (Circulation of Wealth) होना आवश्यक है। किसी एक स्थान पर पूँजी का जमा हो जाना अपने आप में दोष नहीं है, परन्तु यदि उस पूँजी की निकासी न हो तो उसमें वैसी ही सड़ांध पैदा हो जाएगी जैसी एक स्थान पर एकत्रित तालाब के उस पानी में, जिसमें कहीं पानी की निकासी की गुञ्जायश न हो।

यहीं हमें महात्मा गाँधी का 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धान्त याद आता है, अर्थात् हरेक पूँजीपति यह समझे कि मेरे पास विद्यमान सारी सम्पत्ति मेरे निज के या परिवार के उपयोग के लिए नहीं है, अपितु सारे समाज के उपयोग के लिए है और यह सारी सम्पत्ति समाज की है, समाज ने मुझे उस सम्पत्ति का केवल 'ट्रस्टी' (न्यासी) बनने का ही अधिकार दिया है, अर्थात् समाज मेरी इस योग्यता को समझता है कि मैं सम्पत्ति को बढ़ाने के उपाय जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि समाज के हित के लिए उस सम्पत्ति का सदुपयोग कैसे किया जाय। जब समाज ने मुझ पर इतना विश्वास किया है तब मैं समाज के साथ विश्वासघात क्यों करूँ? यदि कोई पूँजीपति अपने पास एकत्रित पूँजी का केवल अपने लिए उपयोग करता है तब वह समाजद्रोही है और कृतघ्नता के पाप का भागी है। "**शत हस्त समाहर, सहस्र हस्त संकिर**" सौ हाथों से कमा और हजार हाथों से दे—यही वैदिक आदर्श है।

आर्यसमाज ने अपनी ओर से किसी भी विषय में कोई नई स्थापना नहीं की, केवल वेद-प्रतिपादित सिद्धान्तों को ही बुद्धि-सङ्गत ढङ्ग से उजागर करने का प्रयत्न किया है। किसी भी विषय में वेद जो कुछ कहता है वही आर्यसमाज को मान्य है और वेद का सिद्धान्त किसी जाति-विशेष या देश-विशेष या काल-विशेष के लिए नहीं; वह सब जातियों, सब देशों और सब कालों के लिए है, इसलिए उसी का अनुगमन करने से विश्व का कल्याण हो सकता है।